श्रीभैरवोपदेश

# निष्काम योग
## एवं
# कर्म-संन्यास योग

(सरल गुजराती भाषा एवं हिन्दी अनुवाद सहित)

गुप्तावतार बाबाश्री

'चण्डी' वर्ष ४६, विशिष्ट अङ्क—२

# निष्काम-योग
# एवं
# कर्म-संन्यास-योग

रचयिता
गुप्तावतार बाबा श्री

अनुवादक
'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल

सम्पादक एवं टिप्पणी-कर्त्ता
'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल
श्री ऋतशील शर्मा

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन,

चण्डी कार्यालय, अलोपीबाग मार्ग,

इलाहाबाद—२११००६

द्वितीय संस्करण : : गुरु-पूर्णिमा २०४४ वि० : : जुलाई ८७

मूल्य [redacted] रु०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक

चण्डी कार्यालय

परावाणी प्रेस,

अलोपीबाग मार्ग, इलाहाबाद—२११००६

# अ - नु - क्र - म


| | | |
|---|---|---|
| १ | निवेदन | ५ |
| २ | ग्रन्थ-कर्ता का परिचय | ७ |
| ३ | पुस्तक-परिचय | ९ |
| ४ | निष्काम-योग का महत्व | ११ |
| ५ | विषय-प्रवेश | १५ |
| ६ | निष्काम-योग का अर्थ | १७ |
| ७ | निष्काम-योग | १९ |
| ८ | टिप्पणी सं० १ | २८ |
| ९ | टिप्पणी सं० २ | ३१ |
| १० | टिप्पंणी सं० ३ | ३२ |
| ११ | कर्म-संन्यास-योग | ३३ |


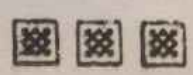

# निवेदन

(प्रथम संस्करण, वैशाख २००९–मई १९५२ में प्रकाशित)

'श्रीभैरवोपदेश' पूज्य चरण - श्रीमान् बाबा मोतीलाल जी महाराज की अध्यात्म-विषयक एक अनूठी रचना है। यह रचना गुजराती के सरस तथा ओज-पूर्ण पद्यों में है। इसमें कर्म, योग और ज्ञान आदि दार्शनिक तथ्यों का वर्णन हुआ है। यह वर्णन उपदेशात्मक होते हुये भी बहुत ही रोचक और हृदय-ग्राही है।

इस पुस्तक के गुजराती संस्करण की भूमिका शारदा पीठ के शङ्कराचार्य ब्रह्मी-भूत त्रिविक्रम-तीर्थ महाराज ने लिखी थी। साथ ही, उन्होंने बाबा जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी उसके साथ दिया था।

पुस्तक-परिचय में इस महत्व-पूर्ण ग्रन्थ का परिचय दिया गया है और जिन महान् व्यक्ति-द्वारा वह दिया गया है, केवल उतने से ही यह बात अपने आप ही स्पष्ट है कि यह रचना अपने विषय की एक बेजोड़ रचना है। अतएव इसके सम्बन्ध में मेरे जैसे साधारण व्यक्ति का कुछ लिखना एक प्रकार की अनधिकार चेष्टा ही नहीं किन्तु ढिठाई की सीमा के भीतर आ जाता है। तथापि इस रचना के दिव्य-आकर्षण के फल-स्वरूप यहाँ कुछ निवेदन करने के लोभ को संवरण करने में असमर्थ हूँ।

अभी तक यह रचना गुजराती में प्राप्त थी। अध्यात्म-विषय के प्रेमियों के सौभाग्य से अब यह हिन्दी-अक्षरों में हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हो रही है।

देश में श्रीमद्भगवद्-गीता का व्यापक प्रचार है। भगवद्-वाणी होने के अतिरिक्त उसमें कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान—जैसे विषय इतने सरल ढङ्ग से समझाये गये हैं कि आज के जिज्ञासुओं के लिये वह स्वभावतः हृदय-हार हो रही है। तो भी उसमें स्थल-स्थल पर ऐसे प्रश्न उठते हैं, जिनका समाधान प्रयत्न करने पर भी नहीं हो पाता। प्रसन्नता की बात है कि 'श्रीभैरवोपदेश' से उन प्रश्नों की मीमांसा ही नहीं हो जाती किन्तु गीता के जटिल सिद्धान्त इस रचना के द्वारा हृदय में घर बना लेते हैं।

मुझ जैसे साधारण पाठकों की अल्प बुद्धि में योग, ज्ञान आदि गम्भीर विषय उतना समझ में नहीं आ पाते। ऐसों के लिये 'श्रीभैरवोपदेश' में इन सभी विषयों का विवेचन ऐसे ढँग से किया गया है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी उन्हें भले प्रकार हृदयङ्गम कर सकता है।

अध्यात्म-विषय के प्रेमियों को इस रचना का संग्रह कर इससे अपना कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

**देवीदत्त शुक्ल**

वैशाख २००९, मई १९५२ प्रयाग

## ग्रन्थ-कर्त्ता का परिचय

(मूल गुजराती संस्करण से उद्धृत)

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि प्रस्तुत पुस्तक 'श्रीभैरवोपदेश' पढ़नेवालों को इसके रचयिता योगि-राज श्री मोतीलाल जी का परिचय, जिनको उनके परिचित 'बाबा श्री' के नाम से पहचानते हैं, जानने की जिज्ञासा हो। इन महात्मा जी का परिचय तीन-चार वर्ष पहले मुझे ब्रह्म-निष्ठ ब्रह्म-चारी श्री नृसिंह शर्मा ने कराया था। उन्होंने कहा कि–"योग और मन्त्र-शास्त्र के अनुभव-सिद्ध ज्ञान को बतानेवाला एक व्यक्ति काशी में आया है और उसके दर्शन का लाभ अवश्य लेने योग्य है। मुझे उनके समागम से बहुत लाभ और सन्तोष हुआ है।"

ब्रह्मचारी जी सदैव तुले हुये शब्द ही बोलते थे। इससे मुझे उनकी बात से बाबाश्री के दर्शन का लाभ लेने की इच्छा हुई।

दैव-योग से मुझे बम्बई जाना पड़ा। उस समय शर्मा जी वहीं थे। उन्होंने मुझसे कहा कि–'बाबाश्री आज-कल यहाँ विराजमान हैं।'

मैं ब्रह्मचारी जी के साथ बाबाश्री के दर्शन करने गया। प्रथम दर्शन से ही उनके उपासकों में दिखनेवाले विरल सद्-गुणों ने मेरे अन्तःकरण को आकृष्ट किया। उनकी दयालुता और उदारता ने मुझे मुग्ध कर लिया और उनके अलौकिक ज्ञान से उनके पास रहने की इच्छा हुई, पर उस समय यह योग नहीं आया। मुझे कलकत्ते जाना पड़ा। वहाँ से वापस आने के बाद उनके साथ विशेष परिचय का योग आया।

तब मैंने जाना कि इस समय भारत में उनके जैसा मन्त्र-शास्त्र और योग का अनुभव-सिद्ध ज्ञाता भाग्य से ही कोई होगा। तभी मैंने 'श्रीभैरवोपदेश' पढ़ा और इसको प्रकाशित करने के लिए वावाश्री से आग्रह किया। उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक अनुमति दे दी और इस प्रकार 'श्रीभैरवोपदेश' आज विश्व-नारायण के कर-कमलों में अर्पण करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

'श्रीभैरवोपदेश' के पढ़ने के वाद इसमें संनिविष्ट विशाल ज्ञान और उसके कम-से-कम शब्दों में समझाने का सचोट विधान देखकर, मुझे उनके जीवन के सम्वन्ध में जानने की जिज्ञासा हुई और समय पाकर मैंने उनसे यह वात पूछी। उन्होंने मुझ पर दया करके अपने जीवन की कुछ रूप-रेखा सुनाई पर बीच में मैं वीमार पड़ गया। मेरी लिखी हुई जीवनी कहीं खो गई। अतः मैं जनता के समक्ष जिस रूप में चाहिये, उस रूप में उसे यहाँ नहीं रख सकता, इसका मुझे वहुत क्षोभ है। परन्तु इन महात्मा जी के जीवन का जो थोड़ा-वहुत मुझे स्मरण है, उससे मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि इनका जन्म, जीवन और कर्म अति दिव्य हैं।

जनता जव इनके शब्दों को पढ़ेगी, उन पर विचार करेगी और उसी रीति से व्यवहार करने का प्रयत्न करेगी, तभी इनके स्वरूप के विषय में मेरे जैसा ही अभिप्राय जाग्रत होगा।

इन महात्मा के ऊर्ध्वाम्नाय का जो ज्ञान मुझे मिला है, उससे मैं इन्हें सवसे श्रेष्ठ और दिव्यात्मा-रूप से जानता हूँ, मानता हूँ और इनकी वन्दना करने में अपनी महत्ता समझता हूँ।

**—शङ्कराचार्य स्वामी श्री त्रिविक्रम तीर्थ जी**

( सम्पूर्ण जीवनी हेतु कृपया 'बाबाश्री चरितामृत' ग्रन्थ देखें )

# पुस्तक-परिचय

(मूल गुजराती संस्करण से उद्धृत)

'श्रीभैरवोपदेश' में सबसे पहले 'निष्काम योग' का वर्णन किया गया है, जो उन्नति के सभी अभिलाषियों और कर्म-मार्ग के अधिकारियों के लिए आवश्यक है।

'निष्काम योग' की पूर्त्ति, 'कर्म-संन्यास योग' द्वारा ही हो सकती है। इसलिये उसका वर्णन 'निष्काम योग' के वाद किया गया है।

कर्म और अकर्म के वन्धनों से मुक्त जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसलिये 'कर्म-संन्यास योग' के वाद 'अध्यात्म योग' का वर्णन किया गया है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के ज्ञान के विना अध्यात्म-ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसलिए उसका भी वर्णन किया गया है।

वैराग्य के विना 'क्षेत्र' का स्वरूप पूर्ण रूप से समझ में नहीं आता, इसलिए 'वैराग्य योग' का वर्णन भी किया गया है।

अव इस उद्देश्य से कि मानवीय जीवन वासनाओं से मुक्त होकर उच्च - स्थिति प्राप्त करे, 'अन्तराग्नि होत्र' का वर्णन किया गया है। दिव्य-भाव प्राप्त होते ही 'विज्ञान योग' का अनुभव होता है। इसलिये अन्तराग्नि होम के वाद 'विज्ञान योग' का फल-रूप से वर्णन किया गया है।

'विज्ञान योग' के प्रकरण में सोपान-रूप से 'मन्त्र-योग', 'राज-योग', 'हठ-योग' और 'लय-योग' का वर्णन किया गया है।

'राज-योग' के परिणाम-स्वरूप 'दिव्य योग' का अनुभव होता है। इसलिये 'दिव्य योग' का वर्णन हुआ है।

मंद अधिकारी प्राणी 'मन्त्र - योग' द्वारा आगे नहीं बढ़ सकते। उनका भी श्रेय हो, इस उद्देश्य से बालकों और वृद्धों द्वारा भी साध्य 'नाद-योग' लिखा गया है।

अन्य देशों में जो नहीं हैं, भारत-वर्ष में ही मुख्यतः देखने में आती हैं, ऐसी विभूतियों का वर्णन महात्माओं के जीवन के रहस्य को समझाने वाला है। महात्मा लोग जगत् के लिये ही जीते हैं। इस सत्य को दिखानेवाले 'भक्ति-योग' और इस सत्य के बीज को हृदय में उत्पन्न करनेवाले 'विभूति - योग' का वर्णन भी इसमें किया गया है, और उसके बाद सर्व-भूत के हित के साधन-रूप 'भक्ति-योग' का वर्णन करके ग्रन्थ पूर्ण किया गया है।

इस प्रकार इस छोटे से ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भाँति तीनों काण्डों और सोलह योगों का वर्णन कर ऐसी जगत्-हितकारी एक नई योजना उपस्थित की गई है, जिससे सरल दृष्टि, सरल बुद्धि और सरल स्वभाव के व्यक्तियों का भी उपकार हो सकता है।

यह ग्रन्थ विद्वान् और अविद्वान्, साधक और विषयी, मुमुक्षु और युक्त सभी के द्वारा आदरणीय होगा, ऐसा मेरा मत है, और मेरी यह भी सम्मति है कि यदि इस ग्रन्थ का दूसरी भाषा में अनुवाद हो, तो इससे अन्य भाषा-भाषियों का भी महान् लाभ हो सकेगा।

**—शङ्कराचार्य श्रीस्वामी त्रिविक्रम तीर्थ जी**

लींवड़ी, सं० १९९१, नवम्बर १९३४

## 'निष्काम योग' का महत्व

(बाबा श्री के प्रवचनों के आधार पर)

भारतीय जीवन-दर्शन के अन्तर्गत 'जीवन' को जीने की सर्वोत्तम पद्धति--'निष्काम योग' है। क्योंकि 'जीवन' का सम्पूर्ण विकास अथवा 'जीवन' की सर्वाधिक सार्थक अभिव्यक्ति 'निष्काम योग' द्वारा प्रतिपादित विचारों के अनुशीलन द्वारा ही सम्भव है। इस दृष्टि से 'निष्काम-योग' की प्रस्तुति विश्व को भारतीय जीवन-दर्शन की अनुपम देन है।

कुछ व्यक्ति अज्ञानता-वश 'निष्काम योग' का अर्थ—'जीवन का त्याग' अथवा 'सक्रिय जीवन' से पलायन समझते हैं। वास्तव में 'निष्काम योग' अत्यन्त 'सक्रिय जीवन' का सूचक है। इसमें 'कर्म' की अशुद्ध अवस्था—'कर्तृत्व' (अहं करोमि) को त्याग कर, विशुद्ध-अवस्था 'क्रिया-वाहनत्व' (निमित्तत्वं) को ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार मनुष्य सतत्-क्रिया का अभ्यासी बनता है।

जिन व्यक्तियों ने अपने 'जीवन' को श्रेष्ठ-तम कौशल एवं अथक परिश्रम से व्यतीत तो किया, किन्तु समय आने पर उन्हें अपना समस्त कर्म-कौशल व्यर्थ प्रतीत हुआ और उनके 'जीवन' में निराशा व्याप्त होती प्रतीत हुई, ऐसे कर्म-शील व्यक्तियों के लिये ही गीता में भगवान् द्वारा सर्व-श्रेष्ठ साधन के रूप में--'निष्काम योग' का उपदेश हुआ है, जिससे परिश्रमी व्यक्ति 'जीवन' का वास्तविक रहस्य समझें और अपने परिश्रम को सार्थक कर सकें।

गीता, अध्याय ३।१-३ में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

"मैंने इस अविनाशी (निष्काम)कर्म-योग को सूर्य को बताया था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को इसे बताया। परन्तप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद यह योग बहुत काल से इस पृथ्वी में लुप्त-प्राय हो गया था। तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिये वही पुरातन 'योग' आज मैंने तुमसे कहा है। यह बड़ा ही उत्तम, रहस्य-पूर्ण और गोपनीय अर्थात् अधिकारी व्यक्तियों को ही बताने योग्य है।"

'निष्काम-योग' का वास्तविक महत्व रहस्य-पूर्ण है क्योंकि हम अपने 'अस्तित्व' से अपरिचित हैं। भारतीय जीवन-दर्शन में 'अस्तित्व'-विज्ञान का परिचय प्राप्त करने के बाद मनुष्यों के अधिकार-भेद से 'योग'-रूपी उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है।

'अस्तित्व'-विज्ञान के अनुसार मनुष्य-देह में कर्म-रूपी व्यापार प्रति-क्षण होता रहता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रति-क्षण हमारे अन्दर कुछ जाता है और उत्तर-रूप में पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा कुछ हमसे बाहर व्यक्त होता है। क्षण प्रति-क्षण स्वतः चालित होनेवाले इस व्यापार ही को हम 'कर्म' कहते हैं।

मनुष्य-देह में अत्यन्त गतिवान् 'मन' है। यह 'मन' अपने दो साथियों 'मैं'–चित्त और 'मेरा'–अहङ्कार द्वारा उक्त क्षण प्रति-क्षण के व्यापार को अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य-देह में विशिष्ट-रूप में सञ्चालित करता है।

'मन' के अतिरिक्त मनुष्य-देह में 'बुद्धि' का भी विकास हुआ है। 'बुद्धि' ही 'मन' को युक्त दिशा में ढकेलती है।

'बुद्धि' और 'मन' के युक्त - सहयोग के फल-स्वरूप जहाँ मानव-समाज ने यथेष्ट भौतिक सफलता समय-समय पर प्राप्त की है, वहीं उनके अयुक्त सहयोग के कारण मनुष्यों को समय-समय पर विनाश-कारी निष्फलता का मुँह भी देखना पड़ा है। 'बुद्धि' और 'मन' के सहयोग का यह तथ्य मानव - समाज की इकाई मनुष्य (व्यक्ति) के प्रति भी सर्वथा सत्य ही है।

'मन' अत्यन्त गतिवान् होने से अन्धा होता है। उसे क्षण प्रति-क्षण गति चाहिये। इसी हेतु वह अपने साथियों–'मैं' और 'मेरा'—सहित इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत नाना विषयों में भटकता रहता है, कहीं भी उसे 'पूर्णता' का आभास नहीं होता। अन्ततः थक कर स्वयं को ही टक्कर मारकर वह रुक जाता है।

'बुद्धि' अपने अन्दर विद्यमान अपने से उच्च तत्व को देख न सकने के कारण 'मन' को सही दिशा की ओर ढकेल नहीं पाती। फलतः अपने से बाहर देखते हुये 'मन' में एक के बाद एक बाह्य विषय जागते रहते हैं। इस चक्र में 'मन' उलझता जाता है और सम्पूर्ण 'अस्तित्व' आनन्द-मय होते हुये भी बन्धन-मय बन जाता है।

जब 'मन' को 'मैं—मेरा' और 'बुद्धि' के परे 'आत्मा' नामक महत्-तत्व का ज्ञान होता है, तब मानवीय अस्तित्व का उच्च-से-उच्च रूप उद्घाटित होता है। 'बुद्धि' 'महत्'-तत्व को देखने लगती है, 'मन' अन्दर स्थित आनन्द-मय स्वरूप का आभास पाकर इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत व्यापार को 'क्रिया-स्वभाव' में स्वीकार करता है। वह कर्त्ता, भोक्ता से निमित्त, पात्र, सेवक बन जाता है। 'कर्म-फल' के स्थान पर 'जाग्रति', 'उज्ज्वलता' उसकी वास्तविक प्राप्ति बन जाती है।

भारतीय जीवन-दर्शन ने मनुष्य-देह के उक्त सत्य को बहुत पहले जान लिया था और तभी 'मानव - देह' को इस सत्य के प्रति जगाने के लिए--चेतन करने के लिए हमारे यहाँ 'निष्काम योग' का उपदेश प्रस्तुत हुआ था।

इस रूप में 'निष्काम योग' एक गम्भीर एवं रहस्य - मय विद्या है। साधारण ज्ञान द्वारा इसमें सहज प्रवेश सम्भव नहीं है। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने जो उपदेश दिये हैं, उनसे जिज्ञासु व्यक्तियों को इस 'योग' के सम्बन्ध में कुछ उद्‌बोधन मिलता है।

'गुप्तावतार' बाबाश्री की प्रस्तुत अनूठी पुस्तक द्वारा इस दिशा में विशिष्ट प्रयत्न हुआ है। ध्यान-पूर्वक पूर्ण मनोयोग के साथ बाबाश्री के उपयोगी उपदेशों के मनन से निश्चय ही यह गम्भीर रहस्य-मय विद्या हमारे लिए सु-बोध बन सकती है। हमें विश्वास है कि सभी पाठक बन्धु इससे लाभ उठायेंगे।

**—ऋतशील शर्मा**

प्रयाग, गुरु पूर्णिमा २०४४ वि०

## विषय-प्रवेश

(बाबाश्री के प्रवचनों के आधार पर)

'क्रिया' का निमित्त बनने से हमें करने ( कर्तृत्व ) का भाव होता है। हम निमित्त कैसे बनते हैं ? उस 'क्रिया' को अपने में देख, उसका आवाहन अपने में करके उसका हम निमित्तत्व प्राप्त करते हैं।

'क्रिया' को अपने अन्दर (अंतर्याग कुण्ड में) होती हुई देख कर व उसके निमित्त बन कर हमें युक्त बनना चाहिये। यही 'क्रिया' का तोष-बिन्दु है। इसी बिन्दु पर हमारे अन्दर 'फल' की इच्छा जन्म लेती है और 'फल' की इच्छा 'क्रिया' को मार डालती है।

अतएव 'करत्व' (अहं करोमि) का त्याग कर हमें 'क्रिया-वाहनत्व' को धारण करना चाहिए। 'करत्व' फलता है, 'क्रिया - वाहनत्व' सदैव मात्र पुष्प-वत् रहता है। 'क्रिया-वाहनत्व' से 'स्व-सन्तोष' होता है। 'स्व-संतोष' के बाद जो 'क्रिया' जागती है, वह 'युक्तत्व-मयी' होती है।

'फलत्व' कैसे जागता है ? प्रत्येक 'क्रिया' आदि - अन्त-मयी है। 'क्रिया' प्रारम्भ में गति-युता होने के कारण, 'फलत्व' आशा का रूप धारण करता है और अन्त में 'क्रिया' के विराम-युक्त होने से, 'फलत्व' प्राप्ति व प्राप्त-फल का रूप धारण करता है। क्रिया का अन्त यदि दूसरी 'क्रिया' का प्रारम्भ या मध्य हो, तो ऐसा नहीं होता।

अतः फल-वती 'क्रिया' बाहर से भले ही 'फल' का रूप धारण करे, अन्दर से एक करनेवाले से अपृथक् रहे, तो उसे फलत्व-रूपी छूत नहीं लगेगी।

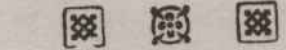

# 'निष्काम-योग'

का

## अर्थ

'निष्काम' का अर्थ क्या है ? क्या 'निष्काम' का अर्थ सर्व-कामनाओं से रहित होना है ?

निष्काम का अर्थ सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग नहीं है। निष्काम का अर्थ यह है कि—"तुम्हारी कामना पशुओं जैसी न रह जाय। उसका विकास हो। तुम्हारी कामना तुम्हारे कल्याण के ही अर्थ बढ़े।"

'निष्काम-योग' में कामना-रहित की बात नहीं है। जगत् के अस्तित्व से हमें निष्कामत्व की भावना लेनी है, न कि आकाश से।

तुम्हारी कामना ('काम') क्या है ? निश्चय ही—'प्रेय'। जो प्यारा लगता है, उसकी प्राप्ति की इच्छा। अपने 'प्रेय' का विकास करने के लिए, तुम्हें प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति का संयम करना होगा। यही 'निष्काम' योग है।

अस्तित्व-रूपी तुम्हारे संकुचित कुएँ के अन्दर की कामना तुम्हारा 'काम' है। इस कुएँ के बाहर की इच्छा 'निष्काम' है।

# निष्काम-योग

**जुओ जे छ सदा ते छे,**
**नथी ते जागशे क्यांथी;**
**हशे सूतो सुषुप्तीमां,**
**तुरीया स्वप्न ते जागे । १**

इस विश्व में जिस वस्तु का अस्तित्व हमेशा से है, वह रहेगा ही और जो नहीं है, वह कहाँ रहेगा ?

अपना अस्तित्व सदा रहनेवाला है । यदि स्वप्न, सुषुप्ति या तुरीय अवस्था में सोया हुआ है, तो किसी दिन जरूर जागेगा । (देखिये, टिप्पणी सं० १)

**यदि अस्तित्व मिथ्या छ,**
**जणाशे विश्व आ क्यां थी;**
**अने रूपान्तरो जो छे,**
**फरी ने रूप त्यां जागे ।। २**

यदि जीव का अस्तित्व मिथ्या है, तो विश्व कहाँ दिखाई देगा ? कोई देखनेवाला ही नहीं है, तो क्या देखेगा और किसको दिखेगा ! (देखिये, टिप्पणी सं० २)

इस विश्व में प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता ही रहता है। जो है, उसका परिवर्तन होकर वह नए रूप में जाग्रत होगा ही।

व्हाला दृश्यना पर्दा,
रंगेला बे रंगे भासे,
सफेदी एक बाजुए;
तरफ वीजी सिया भासे। ३

इस विश्व में जो दृश्य-रूपी पर्दा दिखाई देता है, वह दुरङ्गा दिखाई पड़ता है।

उसका एक पक्ष सफेद है और दूसरा काले रङ्ग का दीखता है।

सफेदी सूखना रूपे,
सियाही दुःखना कूपे;
पहेलो पौरुषी छाया,
द्वितीया प्राकृती माया। ४

जब सफेद रङ्ग सामने आता है, तो 'सुख' का अनुभव होता है और काले के आने से 'दुःख' होता है।

'सुख' पौरुषी छाया अर्थात् धनात्मक है और 'दुःख' प्राकृतिक माया अर्थात् ऋणात्मक है।

चकर दम चक्र चाले छे,
गणो बे एकना रूप;
नहीं त्यां दुःख के सूख,
गणो बे बन्धना रूप । ५

ऐसे 'सुख' और 'दुःख' के पर्दे एक के बाद एक बदलते ही रहते हैं। वास्तव में न 'सुख' है और न 'दुःख'। दोनों एक ही हैं पर हम उनको अलग - अलग मान कर बन्धन में बँध जाते हैं।

कहे शूं वेदना वादी,
करे व्यवसाय बुद्धी मां;
नठारूं आ हशे सारूं,
जणे जो स्वर्ग बुद्धी मां । ६

वेद के माननेवाले कहते हैं कि अमुक यज्ञ करने से यह फल होगा, अमुक करने से स्वर्ग, पुण्य आदि मिलेगा, यह कर्म अच्छा है और यह बुरा।

इस प्रकार कहकर वास्तव में वे लोग अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा स्वर्ग की बात बताते हैं।

करे ते पामता स्वर्गे,
चढ़े पाछा पडे नर्के;
छुटे क्यां आवता जाता,
रहे चोंटी फरे चक्रे । ७

परन्तु यज्ञ आदि करनेवाला व्यक्ति स्वर्ग में जाता भी हो, तो भी पुण्य क्षीण होने से उसे फिर मृत्यु-लोक में जन्म लेना ही पड़ता है और वह जन्म-मरण-रूपी चक्र में चिपका ही रहता है ।

थइ सत्वस्थ त्यागी,
द्वैत ने योगे रहो प्यारा;
तजो जो भोगनी इच्छा,
रमो ज्यां जोइये प्यारा । ८

यदि जन्म-मरण के फेर से छूटना है, तो धनात्मक (सुख-अच्छा) और ऋणात्मक (दुःख-बुरा) रूपी जो 'द्वैत' है, इन दोनों को त्याग कर दोनों के बीच 'सत्वस्थ' की स्थिति में रहकर विश्व में व्यवहार करो ।

'सुख' और 'दुःख' को समान समझना सीखोगे और भोग की इच्छा को छोड़ दोगे, तो तुम जैसा बनना चाहते हो, वैसा ही बन सकोगे ।

तजी ने गंगना पाणी,
अरे शूं कूप खोलो छो;
सदा आनन्दने झरणे,
झरी शूं रूप तोलो छो । ९

गंगा के झरने को छोड़कर तुम वृथा कुएँ को ढूंढ़ने मत जाओ ।

तुम्हारे मन में जो आनन्द-रूपी झरना बहता है, उसे छोड़कर रूप का पल्ला ऊपर है या नीचे, यह मत देखो । अर्थात् अच्छे और बुरे की 'द्वैत'-बुद्धि में न रहो ।

जवुं सद् - कर्म नी राहे,
तजीने मोहना खाड़ा;
फले के ना फले खेतर,
तमारे वाववा वारा । १०

तुमको तो मोह-रूपी खड्ड से बचकर सत् - कर्म की राह पर चलना है ।

सत्-कर्म का फल मिले या न मिले, तुमको तो यही करते रहना है ।

तरे ममता तणो दरियो,
तमारो बुद्धि जो थई दृढ़;
छुटे त्रण कालना पाशे,
फर्यूं जे विश्वना आगढ़ । ११

यदि सत्-कर्म करने में तुम्हारी बुद्धि दृढ़ हो जायेगी तो तुम ममता-मोह-रूपी समुद्र पार कर जाओगे ।

इसके अतिरिक्त इस विश्व-रूपी किले में भूत-भविष्य-वर्तमान में बने हुए या बननेवाले कर्म के बन्धन से भी तुम मुक्त हो जाओगे ।

तजीने कल्पना सारी,
उठे जे मानसी सरथी;
सुओ प्रज्ञा तणी सेजे,
थइ स्थित प्रज्ञ आ गरथी । १२

मन-रूपी तालाब में जो कल्पना-रूपी बाह्य लहरें याने हवाई तरंगें उठती हैं, उस विष को तज कर जब तुम स्थित-प्रज्ञ बनोगे, तब विज्ञान-रूपी गद्दे पर सो सकोगे ।

सुखो ना थाय जे सेजे,
सुई दुःखना गणे कांटे;
नथी को वस्तु मां कर्षण,
नथी ईर्षा तुली कांटे । १३
अहा ! ते संयमी छे धन्य,
जे आतमा महीं निष्ठ;
चले ना इन्द्रियो जेनी,
रहे जई अन्तरे निष्ठ । १४

जो विज्ञान-रूपी गद्दे पर सोकर सुख-दुःख को समान समझता है,

जिसे किसी वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं है,

जिसके मन में ईर्ष्या नहीं है, वह संयमी व्यक्ति धन्य है ।

जिसकी इन्द्रियाँ चलायमान नहीं होतीं और जो अपनी ही अन्तरात्मा में मग्न रहता है, वह धन्य है ।

रमे जे द्वैतमां बुद्धी,
नहीं तेनो समी सरसी;
समी ते बुद्धी जो ना तो,
रमे ना आतमा सरसी । १५

जो बुद्धि 'द्वैत' (याने हर्ष-शोक, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि) में फँसी रहती है, वह अच्छी बुद्धि नहीं है।

जब तक समता नहीं होगी, तब तक व्यक्ति न आत्म-निष्ठ हो सकता है और न आत्म-रत।

**अनातम गीतना गातां,**
**कहो क्यां शान्ति देखाय;**
**अजब आ चक्रना फेरे,**
**फरे ना फेर कां थाय। १६**

इस स्थिति को प्राप्त करने पर भी यदि तुमको पहले की स्थिति अर्थात् द्वैत (हर्ष-शोक, लाभ-हानि, सुख - दुःख) में फँसकर उसका ही गान गाना है, तो तुमको कभी शान्ति नहीं मिलेगी और तुम्हें इस विचित्र चक्र (८४ के फेर) में फँसना ही पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं।

**जुओ वर्षा तणी धारा,**
**तणाई ते नदी जोरे;**
**जई निज धारथी दरिये,**
**भराये भारना जोरे। १७**

जैसे कहीं भी वर्षा होने से उसका पानी नदी की धार बनकर समुद्र में जाता है, वैसे ही—

अहा ! जो तेम आ कामो,
भरीने कामना सारी;
पडे जो अंतरी दरिये,
तहाँ शान्ती वसे सारी । १८

शुभ कामनाओं को भरकर सत् - कर्मों की धार जब अन्तर-रूपी समुद्र में पड़े, तभी शान्ति मिल सकती है।

नथी कंइ जोइतूं जेने,
नहीं चिन्ता चिता सलगी;
स्पृहा ने ईषणा त्यागे,
रहे ते शान्ति ने वलगी । १९

जिसको किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है और जो स्थूल पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा का त्याग करता है, वही पूर्ण शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

(देखिये, टिप्पणी सं० ३)

## टिप्पणी सं० १

इस विश्व में सदा से रहनेवाली एक जीवन-शक्ति है। इस शक्ति को हम 'चिद्-शक्ति' कहते हैं। यह 'चिद्-शक्ति' हर प्रत्येक वस्तु में सदा से रहनेवाली है।

परमाणु, अणु, हवा, पानी, मिट्टी, पत्थर, घास, पेड़, वैक्ट्रिया, कीट, जन्तु, पशु-पक्षी, मनुष्य—सभी में सदा से रहनेवाली 'चिद्-शक्ति' ही है।

आधुनिक युग में यह शङ्का उठाना अनावश्यक है कि अणु-परमाणु में 'चिद्-शक्ति' है या नहीं।

मिट्टी, हवा और पानी में 'अचेतन अवस्था' में 'चिद्-शक्ति' मौजूद है। तभी उनमें जीव पैदा होते है।

पत्थरों में 'अचेतन अवस्था' में यदि 'चिद्-शक्ति' न होती, तो उन पर काई आदि न लगती।

लकड़ी में 'अचेतन अवस्था' में 'चिद्-शक्ति' है, तभी उसमें घुन लगता है।

वनस्पति, वैक्ट्रिया, कीट, जन्तु, पशु-पक्षी में चिद्-शक्ति 'चेतन अवस्था' में है, यह हम सभी जानते है। 'चेतन अवस्था' में 'चिद्-शक्ति'—१ आहार, २ निद्रा, ३ भय और ४ मैथुन के विज्ञान से युक्त रहती है।

मनुष्यों में 'चिद्-शक्ति'–'चेतन अवस्था' के अधिक परिष्कृत रूप में है। सामान्य विज्ञान—१ आहार, २ निद्रा, ३ भय और ४ मैथुन के अतिरिक्त मनुष्यों में 'चिद्-शक्ति'–मन, बुद्धि और अहङ्कार की बनी होती है।

पुनः मन-बुद्धि-अहङ्कार के विभिन्न स्तरों के कारण मनुष्यों में 'चिद्-शक्ति' के विभिन्न स्तर, विभिन्न अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके आधार पर हम अनुन्नत मनुष्य, उन्नत मनुष्य, महात्मा, देवता आदि को पहचानते हैं।

मनुष्यों में 'चिद्-शक्ति' की चार प्रधान अवस्थाएं हैं–१ जाग्रत्, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति और ४ तुरीय।

जाग्रत् और स्वप्न 'चिद्-शक्ति' की बहिः अवस्थायें हैं। इनमें 'चिद्-शक्ति' के सम्पूर्ण अनुभव बाहर की ओर होते हैं। अनुभव के लिये यहाँ 'चिद्-शक्ति' के ७ अङ्ग और १८ मुख होते हैं। सात अङ्ग हैं—१ स्थूल, २ प्राण, ३ मन, ४ बुद्धि, ५ विज्ञान, ६ चित्त और ७ अहङ्कार। १८ मुख हैं—५ ज्ञानेन्द्रिय (१ कान, २ त्वचा, ३ आँख, ४ जिह्वा, ५ नाक) + ५ कर्मेन्द्रिय (१ हाथ, २ पैर, ३ गुदा, ४ लिङ्ग, ५ मुख) + ५ तन्मात्राएं (१ शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस और ५ गन्ध) + ४ अन्तःकरण = मन + बुद्धि + चित्त + अहङ्कार।

सुषुप्ति और तुरीय 'चिद्-शक्ति' की अन्तः-अवस्थाएँ है। इनमें 'चिद्-शक्ति' के सम्पूर्ण अनुभवों के लिये अनुभव और अनुभव-कर्ता एक हो जाते हैं, जिससे इन्हें आनन्द-मय अवस्था कहा जाता है। यहाँ न द्रष्टा है, न दर्शन। अतएव 'चिद्-शक्ति' यहाँ विशुद्ध रूप में अवतरित होती है। उसे किसी अङ्ग या मुख की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जाग्रत् व स्वप्न अवस्था में 'मन' विषयों की ओर झुका होता है। सुषुप्ति अवस्था में 'मन' का रुख चैतन्य की ओर होता है। तुरीय अवस्था आत्म-दर्शन की अवस्था है। इसी अवस्था से मनुष्य 'पुरुष'-पद को प्राप्त करता है। 'पुरुष'-पद की प्राप्ति मनुष्य की उन्नति की पराकाष्ठा है। इसके परे कुछ नहीं है।

इस प्रकार 'चिद्-शक्ति' रूपी अपना अस्तित्व सदा से रहनेवाला प्रधान तथ्य है। 'चिद्-शक्ति' की कोई भी अवस्था हो; यदि मनुष्य किसी समय के लिये कभी अनभिज्ञ बन जाता है, तो कभी-न-कभी अवश्य जागेगा और सदा से रहनेवाले अपने अस्तित्व का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करेगा।

## टिप्पणी सं० २

हमारे यहाँ कुछ लोग कहते हैं–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' परन्तु बाबाश्री कहते हैं कि यदि जगत् मिथ्या है, तो जगत् में रहनेवाले जीव भी मिथ्या होने चाहिये। यदि जीव का अस्तित्व मिथ्या होगा, तो विश्व कहाँ दिखाई देगा ? अर्थात् यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। जगत् मिथ्या नहीं है। जगत् में 'चिद्-शक्ति'-रूपी, सदा से रहनेवाला, अस्तित्व सत्य है। यह अस्तित्व विश्व में 'गति' के कारण प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है और नए रूप में जाग्रत् होता है।

दूसरे शब्दों में जगत् परिवर्तन-मय है। यहाँ कोई वस्तु सदा नहीं रहती। वह जन्मती है, जीती है और क्षय होती है। अनियमित, अनियन्त्रित, अव्यवस्थित को नियमित, नियन्त्रित, व्यवस्थित बनाना और उसे सृष्टि-युक्त बनाकर नवीन रूपों में प्रस्तुत करना यही चिद्-शक्ति-रूपी जीवन का गुण है, लक्षण है।

इस प्रकार विश्व में दो प्रधान तथ्य हैं–१ सदा से रहनेवाला 'चिद्-शक्ति'-रूपी अस्तित्व और २ गति। इन दोनों को एक कर देने से ही हमें जगत् का केवल 'गच्छतीति जगत्' रूप दिखाई पड़ता है और यह भ्रम होता है कि जगत् मिथ्या है।

## टिप्पणी सं० ३

दुनिया में मनुष्य क्या चाहता है ? सुख। सब कोई यही चाहते हैं कि हमें प्रत्येक प्रकार का सुख मिले। किसी ने सुन्दर स्त्री में, तो किसी ने द्रव्य में और किसी ने वैभव में तथा किसी ने सन्तानों में सुख माना है।

अन्न आदि स्थूल पदार्थों से शरीर में रक्त बनता है और उसके द्वारा मन के ऊपर स्थूल का प्रभाव पड़ता है, इस कारण स्थूल याने स्त्री, पुत्र, द्रव्य आदि में सुख मानकर मन उनके पीछे भटकता है।

स्थूल अथवा बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में समस्या यह है कि वे सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। जहाँ उनका संयोग होता है, वहीं किसी-न-किसी रूप में उनका वियोग भी होता है। फलतः दुःख होता है।

दूसरी तरफ मनुष्य-देह में रहनेवाली चिद् - शक्ति सारे विश्व में अणु-अणु में व्याप्त है। वही सच्चिदानन्द है याने सद्, चित् और आनन्द है अर्थात् ये तीनों ही वस्तु हैं। मन 'चिद्-शक्ति' का अङ्ग है। अतः आनन्द = सच्चा सुख सदैव मन के साथ रहता है।

इसके लिए बाह्य-वस्तुओं के संग्रह की आवश्यकता नहीं है अपितु बाह्य वस्तुओं के सङ्ग से, बाह्य वस्तुओं के द्वारा अधिकाधिक 'चिदाभास' को ग्रहण करने की आवश्यकता है।

# कर्म-संन्यास-योग

जणाये कर्म मायाना,
प्रवाहे बिन्दु अस्तित्वे।
अहंकारे कहे जीवो,
करूँ हूँ माहरा सत्वे ।। १

अस्तित्व के बिन्दु में माया के प्रवाह से कर्म उत्पन्न होता है। अर्थात् जीव माया के प्रवाह के कारण ही कर्म करता है, परन्तु वह अभिमान में फँस कर कहता है कि 'यह काम मैंने किया है' या मेरे सामर्थ्य से हुआ है।'

परन्तू कर्म ना गुणने,
कले जे जाणवा वाला।
विदित छे तेहने गुणनी,
प्रवृत्ती गूण मां काला ।। २

पर जो कर्म के गुणों को जानता है, उसको यह मालूम है कि गुण की प्रवृत्ति गुण में ही होती है।

प्रकृतिना गुण जे जाणे,
फसे शूं इन्द्रियो मां ते।
अरे आ तत्त्वथी जाग्या,
विषय ते गूणमां मां ते ।। ३

इसलिये प्रकृति के गुणों को जाननेवाला इन्द्रियों में नहीं फँसता, क्योंकि गुण तो तत्व में से उत्पन्न होता है और वह विषय भी गुण का ही है, व्यक्ति का नहीं।

नहीं जे गूण ने जाणे,
अहंकारे फसाये तो।
अमो सारा अमो माठा,
अमारा कर्म छे ते तो ॥ ४

जो गुण के इस प्रवाह को नहीं जानता, वह अहङ्कार में फँसकर 'अपना यह कर्म अच्छा है, यह बुरा है' कहकर अपने में कर्म की स्थापना करता है।

पोतानी आतमा आ कर्म नी,
धारा तणी स्रोती।
गणी जे शोकने आशा,
तजे ते पामतो 'मोती' ॥ ५

अपनी आत्मा कर्म की धारा का स्रोत है। यह समझकर जो शोक और आशा को छोड़ देता है, उसको सत्य का प्रकाश दिखता है।

जगतमां ज्ञानियो अज्ञानि,
ने जे जीव जीवे छे।
करे कर्मो, पोतानी प्रकृतिना,
अंगे तजे शूं छे ॥ ६

इस संसार में ज्ञानी, अज्ञानी, सभी जीव अपने स्वभावानुसार कर्म करते रहते है। वे कुछ भी नहीं छोड़ सकते, क्योंकि उन सबको जगत् के शीत-उष्ण, लाभ-हानि इत्यादि का द्वित्व लगा हुआ है। फिर वे त्यागी कैसे हो सकते है और बन्धन से कैसे छूट सकते है ?

अरे जो इन्द्रियो प्रत्येक,
पोताना गुणे रमती।
तजे छे एकने बीजु,
लई तेना गुणे रमती ॥ ७

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने गुणों में फिरती रहती है। यदि कोई व्यक्ति किसी एक विषय को छोड़ेगा, तो दूसरा विषय उस पर चढ़ बैठेगा। जैसे, व्यक्ति ने यदि 'काम' को जीत लिया है, तो 'क्रोध' बढ़ जायगा।

परन्तू ते गुणो मां द्वेष,
ने कामादि जो जागे।
पडे तो वन्धने खारा,
खरी तेमां मली मागे ।। ८

इन गुणों के पीछे दौड़ने से द्वेष, काम, क्रोध आदि विषय जागते हैं और व्यक्ति बन्धन में बुरी तरह फँसकर अपने मार्ग से च्युत हो जाता है।

अरे आ स्वादना फांसे,
फसे ते भोग नाना तो।
भले भोगो वधा भोगे,
फसे जो स्वादमा न तो ।। ९

यहाँ तक कि इन विषयों के स्वाद में फँसकर मन नाना प्रकार के भोग भोगता है पर भोग को भोगते हुए भी, यदि मन उसमें न फँसे तो भोग के भोगने में कोई हानि नहीं है।

जुओ हूँ नेत्रना विषये,
गयो जोवा महा नाटक।
अहा शूं रङ्ग-भूमी आ,
रह्यो जोतो करी त्राटक ।।१०

अब ऊपर कही हुई बात का दृष्टान्त सुनो। जैसे, आँख को देखना अच्छा लगता है। नाटक देखना नेत्र का विषय है। नेत्र के विषय के कारण मैं एक दिन विश्व का महा-नाटक देखने गया और वहाँ की रङ्ग-भूमि, सीन-सीनरी, नट-नटी आदि की प्रशंसा करता हुआ ध्यान से उसे देखता रहा।

थयू ज्यां पूर्ण ते नाटक,
गुणों में तेहथी लीधा।
रखे जो मोहना फांसे,
फसे अन्दर जड़ी दीधा ॥ ११

नाटक के पूर्ण होते ही मैंने उसकी उन बातों को छोड़कर, जिनसे मेरा मन मोह के जाल में फँस जाता, मैंने ग्रहण करने योग्य गुणों को अन्तर में स्थिर कर लिया।

महारो मित्र ते जोवा,
गयो त्यां आंसुओ झरतो।
अरे आ दुःख जो रामा,
रुओ आ मारशे फरतो ॥ १२

मेरा एक मित्र भी नाटक देखने गया था। नाटक में एक लड़की पर मार पड़ती है, जिससे वह रोती है। यह दृश्य देखकर मेरा मित्र भी रोने लगा—

पछे ते यादमां तेनी,
विचारे स्वप्न ने जोतो ।
खरेला चित्तथी घेरे,
गयो हसतो अने रोतो ।। १३

नाटक की बात को याद करता हुआ वह क्षण भर हँसता और क्षण भर रोता, खिन्न चित्त से घर जा रहा था ।

जतां जो मार्ग मां देख्यूं,
अंधारे वृक्षनू ठूंठ ।
अरे आ भूत छे जोजे,
रखे मारे मुने मूंठ ।। १४

रास्ते में चलते-चलते अँधेरे में उसने वृक्ष के एक ठूँठ को देखा । उसको जान पड़ा कि वह कोई भूत है और शायद मुझको मूठ मारेगा ।

कही ने नासतो चाल्यो,
मगज मां भूत पेठूं हा ।
जई सूतो पथारी मां,
छता भूले न दीठूं हा ।। १५

ऐसा सोचकर वह घर की ओर जान बचा कर भागा। घर में जाकर बिस्तर में लेटने पर भी भूत की बात को वह भूल नहीं सका, यद्यपि भूत आदि कुछ था ही नहीं।

जुओ मन इन्द्रियो आ,
रीतथी जगने नचावे छे।
पडे वश ते तणे जे ते,
पडे ने भूत चावे छे॥ १६

ठीक ऐसे ही मन और इन्द्रियाँ जगत् को इसी तरह नचाती हैं और जो उनके जाल में आ जाता है, उसका व्यक्ति-अस्तित्व गिर जाता है और उसे भूत दीखने लगता है।

परन्तू ज्ञानिना चित्ते,
कदी आवु न आवे छे।
अने ना शब्द रूपादी,
गुणो तेने फसावे छे॥ १७

पर इस बात को ज्ञानी भले प्रकार जानता है। उसके चित्त में कभी ऐसे विचार नहीं आ सकते और शब्द-रूपादि गुण उसको फँसा नहीं सकते।

सुणो मन राजसी रूपे,
जणे छे क्रोध ने काम ।
महा-शक्ति धरावे ते,
ठरे ना वोधना जाम ।। १८

मन में रजो-गुण का प्राधान्य होने से काम और क्रोध पैदा होते हैं । वे दोनों ही महान् शक्ति-शाली हैं । ज्ञान-द्वारा समझाने से भी वे नहीं समझते ।

फसावी पाडता मोटा,
धुरन्धर ज्ञानियो ने ते ।
वसे मन बुद्धि इन्द्रियादी,
विंटाइ प्राणियो ने ते ।। १९

बड़े-बड़े धुरन्धर ज्ञानियों को भी वे फँसा कर गिरा देते हैं । वे प्रत्येक व्यक्ति के मन, बुद्धि और इन्द्रियों में लिपटे रहते हैं ।

फसोना इन्द्रिय ग्रामे,
विचारी नित्य छे ना ते ।
जुओ आ आवता जाता,
विषय ने ओलखी जाते ।। २०

इसलिये बेटा, इन्द्रियों के विषय में मत फँसना। जब वे विषय तुझे फँसावें, तब उनका सामना करना और मन को समझाने का प्रयत्न करना कि दो मिनट की मौज के लिए क्यों फँस रहा है? इन्द्रियों के विषय आने - जानेवाले और अनित्य हैं। इस बात का पूर्ण विचार करके अध्ययन करो।

अनित्यो नूं खरी जावूं,
ठसे जो चित्त तारा मां।
मनो बुद्धी वशी थाशे,
जशे ना ते नठारा मां॥ २१

जो अनित्य है, वह सदा नहीं रहता; उसमें परिवर्तन होता ही रहता है। यह बात यदि तुम्हारे मन में धीरे-धीरे अभ्यास-द्वारा ठस जायेगी, तो फिर मन और बुद्धि तेरे वश में हो जायगी और बुरे विषयों में कभी नहीं जायेगी।

जता भय क्रोधने माया,
ठरे ते बुद्धिमां ज्ञान।
थशे अन्तःकरण शुद्धी,
प्रकाशे आत्म विज्ञान॥ २२

तेरे रास्ते में भय, क्रोध, माया इत्यादि तुझे सतायेंगे परन्तु उपर्युक्त अभ्यास करने से तेरी बुद्धि में ज्ञान आएगा और अंतःकरण की शुद्धि होकर आत्म-विज्ञान का प्रकाश होगा।

करे जो धर्मथी कर्म नहीं,
ते कर्म बाँधे पण।
करे ना कर्म जो वीने,
जणे ते कर्म बाँधे मन ॥ २३

मन में उच्च ध्येय को रख कर; समयानुकूल कर्तव्य समझ कर कर्म करनेवाले व्यक्ति को, कर्म के कोई बन्धन नहीं लगते परन्तु बिना ध्येय के, बिना सोचे, अपने मन से ही सकाम कर्म करनेवाले या भय के मारे कर्म न करनेवाले व्यक्ति मन को बन्धन में डालते हैं क्योंकि ऐसा कर्म या भय बन्धन-मूलक होता है।

तजी फल फूलनी आशा,
अरे माली सुघड तू कर।
बगीचो छो फले फूले,
मले तूने जबर जो जर ॥ २४

हे माली ! तू अपने मालिक के बगीचे को; कुछ भी लाभ उठाने की आशा रक्खे बिना, फल-फूलों से शोभायमान कर दे। यदि तू लाभ की आशा करेगा, तो तू अपने मालिक के प्रति बेईमान होगा और ईमानदारी से बगीचे को फूला-फला रखेगा, तो तेरा मालिक तुझसे खुश होकर तुझे बहुत द्रव्य देगा।

मले तेमा गुजारो कर,
तजीने द्वन्द्व ने मत्सर ।
न नुकशाने जरा तूं डर,
जिगरने तोषथी सरकर ।। २५

तू द्वित्व अर्थात् सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि में समता रखकर, अभिमान को छोड़कर जो कुछ तुझे मिले, उससे तू अपनी गुजर-बसर कर क्योंकि पराई चुपड़ी हुई रोटी अपने किस काम की ? कभी नुकसान भी हो, तो उससे डरना नहीं। तुझे तो अपने मन में सन्तोष रखकर, जगत् के लोभ-रूपी शत्रु पर विजय पाना है।

करी कोइ महा-यज्ञो,
जगाडे देवनी प्रीती ।
अनल मां आत्म - संयम,
होमता विषयो कोइ जीती ।। २६

इस विश्व में कोई व्यक्ति अपने लाभ के लिये विष्णु-यज्ञ, महा-रुद्र-याग, सोम-याग आदि यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए करते हैं, तो कोई व्यक्ति इन्द्रियों के विषय को जीत कर आत्म-संयम-रूपी अग्नि में हवन करता है।

कोइ जो आत्म-संयम योग,
अग्नी ज्ञानना इन्धन।
प्रदीपी होमता प्राणादि,
कर्मो वैषिकी वन्धन ॥ २७

कोई व्यक्ति आत्म-संयम-रूपी वेदी में ज्ञान-रूपी लकड़ी से योग-रूपी अग्नि प्रज्वलित करके प्राणादि कर्मों तथा विषयों के बन्धनों का होम कर देता है।

करे को दानना यज्ञो,
अने को योगना यज्ञो।
करे वृत को गुरू पामी,
करे को ज्ञानना यज्ञो ॥ २८

कोई अपनी मेहनत से की हुई कमाई के धन में से दान करके यज्ञ करते हैं, कोई योग का यज्ञ करते हैं, तो कोई गुरु को प्राप्त कर इन्द्रियों के संयम के लिये व्रत का पालन करता है; कोई ज्ञान-रूपी यज्ञ करता है—

जुओ योगी तणा यज्ञो,
करे पूरक तथा रेचक ।
महा-गति प्राणनी रोकी,
बतावे कुंभकी पेचक ।। २९

तो हठ-योगी के यज्ञ में वे 'पूरक और रेचक' याने प्राण को भीतर - बाहर करते हैं और प्राण की गति को रोककर कुम्भक की कला को चलाया करते हैं ।

बिजा आहार ने रोकी,
भरे जो प्राण मां प्राण ।
सरव आ ब्रह्म-मय जाणी,
हुँ ने को ब्रह्ममां ब्रह्म ।। ३०

कोई अपने आहार को रोककर केवल प्राण की गति में प्राण को भरता है । खाने-वाला और अन्न दोनों ही ब्रह्म हैं, ऐसा ध्यान कर वह ब्रह्म में ब्रह्म का हवन करता है ।

कोइ पंचाहुति होमे,
मली आ पंच प्राणो मां ।
एवी आ यज्ञनी लीला,
उगारे कूप खाणोमां ।। ३१

कोई पञ्च-प्राणों में पञ्चाहुति (प्राण, अपान, समान आदि) देकर हवन करता है । इस प्रकार यज्ञ करते रहने से व्यक्ति गहरे खड्ड में गिरने से बच जाता है ।

परन्तू माहरूं यज्ञ,
जुओ आ ज्ञाननी अग्नी ।
बधा कर्मो कुकर्मो ने,
अकर्मो होमतो लग्नि ।। ३२

दुनियाँ के व्यक्ति ऐसा यज्ञ भले ही करते रहें परन्तु मेरा यज्ञ क्या और कैसा है, यह सुनो । मुझे तो इस विश्व में ईश्वर सम-रूप से भरा हुआ है, ऐसे ज्ञान की अग्नि में सब कर्म, अकर्म और कुकर्म का हवन कर देने की लगन लगी है ।

अने सन्देह ने शंका,
तणा पशु यज्ञमां बांधी ।
करूं बलि ज्ञानना शस्त्रे,
प्रभू प्रिय योगने सांधी ।। ३३

प्रत्येक हवन के अन्त में पशु या कूष्माण्ड की बलि देने की प्रथा है, परन्तु ईश्वर का प्रिय सङ्ग प्राप्त करने के लिये मैं तो ऊपर कहा हुआ ही यज्ञ करता हूँ और उसमें सन्देह तथा शङ्का-रूपी पशुओं को बाँध कर विज्ञान-रूपी शस्त्र से उनकी बलि देता हूँ ।

थशे ना त्याग बाहरथी,
करोने अन्तरी त्याग ।
वहारे छो करो कर्मो,
फलोनो अन्तरी त्याग ।। ३४

यदि कोई कहे कि मैं त्यागी हूँ और मैंने सब कुछ छोड़ दिया है, तो यह झूठी बात है । खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना आदि आवश्यक वस्तुओं का त्याग हो ही नहीं सकता क्योंकि उनकेबिना जीवित रहना बहुत कठिन है । इसलिये उपदेशक कहते हैं कि बाहर से किसी वस्तु का त्याग नहीं हो सकता । यदि त्याग करना है, तो अन्तर से त्याग करो ।

जैसे कोई चीज है तो है; नहीं है तो नहीं, ऐसा समझो । इस वस्तु के बिना चलेगा ही नहीं, ऐसा न मानना चाहिये । आवश्यक कर्म बाहर से भले ही करना पड़े परन्तु उसका जो फल होगा, उसका अन्तर से त्याग करो, क्योंकि उसका बाहर से त्याग नहीं हो सकता । जैसे कोई व्यक्ति नौकरी करे और पैसा न ले, तो खाएगा क्या ? इसलिये अन्तर का त्याग बताया गया है ।

करो जो योगमां कर्मो,
फसो ना शान्तिने पामो ।
परन्तु जो फलो भेरी,
भखो तो मृत्युने पामो ।। ३५

अपना मन प्रभु के चरणों में लय करने की इच्छा से जो व्यक्ति कर्म करता है, उसका मन कर्म में नहीं फँसता और उसे शान्ति मिलती है परन्तु सभी स्थूल वस्तुओं की प्राप्ति के रूप में विषैला फल खाने से मृत्यु होगी ।

थशे जे जीवने ज्ञान,
धरे व्रत ते जगत-हितनूं ।
रहे ना कामना कांई,
जहाँ देखे जगत-हितनूं ।। ३६

जो व्यक्ति ईश्वर को प्रत्येक वस्तु में देखता है, उसका प्रत्येक कर्म ईश्वर के लिये ही होगा । जिसे उसका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह जगत् के हित के लिये सब काम करता रहेगा । अपने लिये कुछ करने की उसे इच्छा ही नहीं रहेगी।

फरे अन्तर तणो जादू,
जमाडे चित्तने गोती ।
अखण्डानन्त ना प्रेमे,
रँगेलूं रम्य आ "मोती" ।। ३७

जब इस रीति से अन्तर का जादू मन पर असर करेगा, तब अनन्त और अखण्ड प्रेम में रँगा हुआ यह रम्य 'मोती' (प्रकाश), साधक के मन के चैतन्य लक्ष्य को ढूंढ़कर उसे आनन्द का भोजन अर्थात् अमृत का पान कराएगा।

नहीं जे वासना त्यागे,
न ते योगी कदी थाय।
करे ना कर्म-फल त्यागी,
न ते योगी कदी थाय॥ ३८

जो व्यक्ति भोग की इच्छा का त्याग नहीं कर सकता, वह कभी योग की साधना नहीं कर सकता और जो फलों की इच्छा का त्याग कर कर्म नहीं करता, वह भी योग की साधना नहीं कर सकता।

अमारा चित्तमां मारी,
तमारा चित्तमां तारी।
रमे जो वृत्तियो कारी,
कदी ना योगमां जारी॥ ३९

मेरे मन में मेरा स्वार्थ और तुम्हारे मन में तुम्हारा स्वार्थ—इस प्रकार की कठिन वृत्तियाँ जब तक मन में रहेंगी, तब तक मन योग में स्थिर नहीं हो सकता।

छूटे जो वासना विषयी,
अने आसक्ति कर्मोनी।
तथा संकल्प संन्यासी,
महा योगीश ते जोनी ॥ ४०

योगी बनने में जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उन्हें ऊपर बताया गया है। अब योगी कौन बन सकता है, यह बताते हुए उपदेशक कहते हैं—जिसके मन की विषय-रूपी वासना और कर्मों के फलों की आसक्ति छूट जाती है और जिसके सम्पूर्ण सङ्कल्प ईश्वर के निमित्त ही होते हैं, अपने लिए नहीं, वही महा-योगी बन सकता है।

वधे निज कर्मथी आगल,
हटे निज कर्मथी पाछल।
पोते छे शत्रु पोतानो,
हणे पोते करी छल-वल ॥ ४१

व्यक्ति अपने ही कर्मों से आगे बढ़ता है और अपने ही कर्मों से पीछे हटता है क्योंकि अपना मन की हुई गलती को कभी स्वीकार नहीं करता। इसलिये अपना मन अपना ही शत्रु होकर अपने को धोखे में डालकर मार डालता है।

थयो जे आत्मा तृप्त,
भखीने ज्ञान कूटस्थ ।
समत्वे सर्वने देखे,
महा योगीज ते मस्त ।। ४२

जो आत्मा गुप्त ज्ञान-रूपी भोजन से तृप्त हो गई है, वह सबको बराबर सम-दृष्टि से देखती है और ऐसी आत्मावाला व्यक्ति बहुत ऊँचा मस्त योगी होता है ।

ठरी दृढ आसने बेसी,
रहो अन्तर सदा जागी ।
वहारेथी वहो अन्दर,
करीने चित्त वैरागी ।। ४३

अपने मन को शान्त कर, दृढ़ आसन से बैठ कर सदा अन्तर में जाग्रत रहो और मन को झूठी तरंगें उठाने से रोको । जो मन बाहर के विषयों के स्थूल पदार्थों में बह रहा है, उसके प्रवाह को अन्तर की ओर उलटा कर चित्त को राग से विरक्त करके अथवा बाहर के विषयों से विरक्त चित्त होकर उसे अन्तर की ओर बहाओ ।

जुओ अन्तर अनन्तात्मा,
तणी आ दिव्य ज्योतीने ।
रहो आनन्दमां डूबी,
थई गर्काव गोतीने ।। ४४

अपने अन्तर से अनन्त आत्मा की दिव्य ज्योति को देखो और उस दिव्य पदार्थ को ढूंढ़कर आनन्द में डूब कर एकाग्र बन जाओ ।

घणूं खाशो वधारे मां,
घणूं सूशो वधारे मां ।
रहो युक्ताचरण मां,
भोगशो भोगो वधारे मां ।। ४५

योग के अभ्यासी को बहुत नहीं खाना चाहिये और उसे आलसी बनकर पड़े रहना या सोना नहीं चाहिये । उसको युक्त आचरण करना चाहिये और बहुत भोग न भोगना चाहिये ।

धरीने धारणा एवी,
जगावो अन्तरे भेदी ।
गुरूना शब्दमां जागो,
रखे भ्रम भेद दे छेदी ।। ४६

उसको अन्तर के भेदन द्वारा ऐसी धारणा स्थिर करनी चाहिये, जिससे मन गुरु के उपदेश के प्रति जाग्रत रहे और उसमें भ्रम-भेद घुसने न पाये ।

महा आनन्द ते जादू,
कहे क्यां शब्द मां कोई ।
चलेना तत्वथी तत्वी,
बतावे अनुभवी कोई ।। ४७

गुरु के उपदेश का मनन करते हुए अपने ध्येय से विचलित न हो । यह महा आनन्द से भरा हुआ एक जादू है, जिसका शब्द-द्वारा वर्णन नहीं हो सकता । जो व्यक्ति तत्वों का जानने वाला अनुभवी होगा, केवल वही उसको बता सकता है ।

नथी आ विश्वमां तेथी,
वधी ने लोभ क्यां गोतो ।
महा आनन्दमां पेसी,
पछे क्यां दुःख शूं गोतो ।। ४८

इस आनन्द को प्राप्त करने से बढ़कर इस जगत् में और कोई लोभ या आकर्षण किसी वस्तु में नहीं मिलेगा क्योंकि जिस साधक को यह महा-आनन्द प्राप्त होता है, उसे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता ।

अरे जो वज्र फाटे आभथी,
पण ते चले शानां ।
थया जे मस्त दीवाना,
चरण नख ज्योतिमां माँना ।।४९

जो साधक मां के चरणों के नख की ज्योति में अर्थात् अपने उच्च ध्येय में मस्त—पागल बनता है, वह अभ्र से वज्र के गिरने पर भी मोह-माया के चक्कर में नहीं फँसता ।

तपस्वीथी वधू योगी,
वधारे ज्ञानथी पण ते ।
वधू कर्मो थकी योगी,
सदा आनन्द मां जन ते ।। ५०

उपवास करनेवाले या देह के दमन करनेवाले तपस्वी से योगी अर्थात् जिसका चित्त समत्व से भरा हुआ है, श्रेष्ठ है । इतना ही नहीं, वह ज्ञानी और कर्म-योगी से भी श्रेष्ठ है । वह हमेशा अपने आनन्द में मस्त रहता है ।

कहाडो दिव्यता अभ्यास,
ने वैराग्यथी गोती ।
पराणे पेस उंडामा,
जडे झल झल थतूं 'मोती' ।। ५१

इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये यदि साधक राग से रहित होकर याने द्वित्व को छोड़कर अन्तर के अन्दर पूर्ण परिश्रम से चैतन्यास्तित्व के बोध का अभ्यास करेगा, तो उसको 'मोती' अर्थात् चैतन्यास्तित्व का झल-झलाता हुआ प्रकाश दीखेगा।

भरेलो विश्वनो स्वामी,
विभू आ ओतने प्रोत।
अहा अव्यय अने अविभक्त,
रूपे दिव्य ते जोत ॥ ५२

अब चैतन्यास्तित्व के सम्बन्ध में उपदेशक कहते हैं—इस विश्व का स्वामी ईश्वर दिव्य ज्योति-रूप से अणु-अणु में अव्यय और सम-रूप से ओत-प्रोत भरा हुआ है।

जुओ आ सात्विकी ज्ञान,
कले जो मोक्ष पामे ते।
नहीं तो विश्वना चक्रे,
चणायो क्षोभ पामे ते ॥ ५३

यह सबसे बड़ा सात्विकी ज्ञान है। जो साधक उसको जानता है, वह मोक्ष-पद को प्राप्त करता है और जो उसे नहीं जानता, वह विश्व के चक्र में फँसा रहकर क्षोभ को प्राप्त होता है।

प्रकृति आ आतमा तलनी,
जणाये स्थूलना रूपे ।
जुओ नवधारमां व्हेती,
गणाये भूलना कूपे ।। ५४

जैसा ऊपर कहा गया है, उसके अनुसार जब ईश्वर सब अणुओं में ओत-प्रोत है, तब न्याय की दृष्टि से जैसे जान या अनजान में भी यदि अग्नि में हाथ लग जाय, तो वह जल जायेगा। वैसे ही प्रभु सब जगह है तो अपने हृदय में भी है, तो उसे जानकर मुक्त हो सकते हैं, तो न जानकर मुक्त क्यों नहीं हो सकते? इस शङ्का का समाधान यही है कि सात्विकी ज्ञान प्राप्त करके ही मुक्ति पा सकते है अन्यथा नहीं। इस विषय को समझाते हुये गुरुदेव कहते हैं—आत्मा—चिद् शक्ति की गहरी गति के कारण प्रकृति स्थूल के अन्दर आवरण-रूप से नौ धाराओं में बहती हुई दीखती है।

गणो भू जल अनल वायू,
तथा आकाश मन बुद्धी ।
तथा चित्त ने अहम्मूले,
नवे नव नागनी शुद्धी ।। ५५

शुद्ध गति में से जागती हुई इन नौ धाराओं के नाम हैं– १ भू, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ अवकाश, ६ मन, ७ बुद्धि, ८ चित्त और ९ अहङ्कार।

नवे आ रूप छे अपरा,
प्रकृति नव चण्डिका रूप।
अने चैतन्यनो भाव,
कहेवाय परा रूप ।। ५६

प्रकृति के दो मूल प्रवाह हैं—१ 'अपरा' और २ 'परा'। अपरा में प्रकृति का प्रवाहात्मक चिद्-भाव है और परा में ज्ञानात्मक चिद्-भाव है। ऊपर कही हुई नौ धाराएँ अपरा अर्थात् अविद्या हैं और लोग उन्हें नव-चण्डी के नाम से जानते हैं।

परा विद्या अने अपरा,
अविद्या नामथी बोले।
परा ते सर्वना बीजे,
विभूती रूपथी डोले ।। ५७

परा का नाम विद्या है और अपरा का नाम अविद्या। अपरा का लक्ष्य क्रियात्मक है और विश्व की सब विभूतियाँ परा विद्याएँ हैं।

सुणो अपरा त्रिगुण-भेदी,
महा-शक्ती कहेवाय ।
मुके गति गूण त्रण गुणमां,
वहेंचीने परो वाय ।। ५८

तीन गुणों की क्रिया का सञ्चालन करनेवाली महा-शक्ति अपरा विद्या है । वह तीनों गुणों से शक्ति का सञ्चार करती है और तीनों में पिरोई हुई है ।

नचावे विश्वने डोरे,
धरीने आ महा-माया ।
गहे जो शर्ण विद्यानी,
छुटे ते तेहनी दाया ।। ५९

ईश्वर के ओत-प्रोत होने और अपने हृदय में भी होने पर हमने उसे प्राप्त नहीं किया । इसलिये यह महा-माया अथवा अविद्या सारे विश्व को रस्सी में बाँधकर कठपुतली की तरह नचाती है । जो व्यक्ति अविद्या की उपासना करते हुये विद्या की शरण में जाता है, वह अविद्या की दया प्राप्त कर उसके बन्धन से छूट जाता है अर्थात् प्रभु को प्राप्त करता है ।

कुओ को आर्त थइ आवे,
थइ जिज्ञासु को भावे।
कोई अर्थार्थिने दावे,
थइ ज्ञानी भजे भावे ।। ६०

प्रभु की शरण कैसे ली जाती है, इस सम्बन्ध में उपदेशक कहते हैं कि कोई व्यक्ति दुःखी होकर, तो कोई जिज्ञासु होकर, तो कोई अपना मतलब साधने के लिये, तो कोई ज्ञानी बनकर प्रभु को भजता है।

मले ते सर्वने छाया,
भरी दाया महा तपथी।
परन्तू ज्ञानि छे व्हालो,
भजे भक्ति तथा तपथी ।। ६१

उन सभी को प्रभु की बड़े तप से भरी हुई और दया-मय छाया मिलती है, पर उन सभी में से जो प्रेम और तपश्चर्या से अपने आत्म-कल्याण के लिये प्रभु को भजता है, वह ज्ञानी प्रभु को बहुत प्रिय है।

यदि ते कामथी ध्यावे,
पुरे ते कामना तेनी।
अने निष्कामना भवे,
भजे गति मुक्ति छे तेनी ।। ६२

जो कोई अर्थार्थी होकर अपनी कामना के लिए प्रभु को भजता है, उसकी कामना पूर्ण होती है और जो निष्काम-भाव से प्रभु को भजता है, वह जन्म-मरण - रूपी फेर से छूट जाता है।

छुटे अधिभूतने अधिदेव,
पण अधियज्ञना छेक।
महा-माया कृपा तारी,
कहाडे मोहथी छेक ॥ ६३

उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिये जीव को तीन प्रकार की सीढ़ियाँ मिलती हैं। एक 'अधि-भूत' याने जगत् के कर्मों की—पारस्परिक सम्बन्ध—ऋणानुबन्ध की। दूसरी 'अधि-देव' याने पुण्य की। ये दोनों सीढ़ियाँ ऊपर जाते ही छूट जाती हैं पर तीसरी सीढ़ी 'अधि-यज्ञ' याने प्रभु के साथ का सम्बन्ध छूटता नहीं है। प्रभु के साथ के सम्बन्ध में भक्त प्रभु की दया प्राप्त करके अपनी आत्मोन्नति करता है और आत्मोन्नति-द्वारा जो कुछ उसे मिलता है, वह उसे प्रभु के चरणों में अर्पित करता है। इस प्रकार जो कुछ उसे मिलता रहता है, उसे वह प्रभु के चरणों में रखता जाता है। व्यक्ति की उन्नति क्रमशः आगे बढ़ती है। इस तरह 'अधि-यज्ञ' करनेवाला भक्त महा-माया की कृपा प्राप्त कर मोह से छूट जाता है।

जुओ आ विश्व दरियाना,
किनारे पारमां गोती ।
झरे जो प्रेमनी सोती पडे,
त्यां आभथी 'मोती ।। ६४

विश्व-समुद्र में ढूंढ़ने से सीप, शङ्ख, आदि मिलते हैं पर तुम्हारे चित्त में—हृदय में यदि प्रेम का झरना बहता होगा, तो उसमें विद्यमान आभा से स्वाती का बूंद टपक कर मोती मिलेगा अर्थात् अन्तर में प्रकाश दीखेगा ।

गल-गल गटके, भल-भल भटके ।
माया मटके, सब जग सटके ।।
काया कटके, खल-बल खटके ।
गल-मल घट के, चर-मर चटके ।।
बाबा छटके, झटपट झटके ।
पडते फटके, टकते टटके ।।
तरते तट के, डोलो डट के ।
नर कर नट के, पथ पर पटके ।।
फोडे फटके, जाजड लटके ।
हर-हर रट के, कभी न अटके ।।
विरथा भटके, रह जा हट के ।

माया विश्व को निगल जाती है। बड़े-बड़े लोग भटकते रहते हैं अर्थात् उनको मार्ग नहीं मिलता। माया के भटकने से सारा जगत् बदल जाता है। काया—देह का क्षय होता है। षड्-रिपुओं का बल विघ्न डालता है। गले तक देह में मल भरा हुआ है। देह टूटती है, प्रभु दूर रहता है। माया जल्दी से झटका मारती है और माया की उस मार पर जो सचेत होता है, वह सिद्ध हो जाता है। किनारे पर चलनेवाला पार हो सकता है। इसलिये हिम्मत से मार्ग पर चलो। व्यक्ति का हाथ नट के हाथ में है। माया मार्गस्थ व्यक्ति को भी नीचे गिराती है और उसे मारती है। इससे मार्गस्थ व्यक्ति भी जन्म-मरण के फेर में लटकता रहता है, परन्तु हरि का स्मरण करने से कोई अटकता नहीं है। जीव वृथा भटकता है, इसलिए इस माया के मार्ग से हटकर रहो।

# मुमुक्षु मार्ग

(रहस्योद्घाटन)

गुप्तावतार बाबाश्री के प्रवचनों

के

आधार पर

ॐ, राम, कृष्ण, गायत्री, नवार्ण,

मृत्युञ्जय आदि मन्त्रों का रहस्यार्थ

एवम्

कुण्डलिनी-रहस्य, योग-रहस्य,

पादुका-रहस्य, पूजा-रहस्य

आदि

महत्वपूर्ण विषयों का विवेचन

मूल्य : १०-०० रु०